



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2021; 7(1): 456-460

© 2021 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 06-11-2020

Accepted: 11-12-2020

जया सिंह

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

स्याद्वादमञ्जरी में आत्मस्वरूपनिरूपण

जया सिंह

सारांश

शास्त्रों में प्रतिपादित विभिन्न विचारों एवं सिद्धान्तों का केन्द्रबिन्दु 'लोकव्यवहार' होता है। इस लोकव्यवहार में हमें द्विविध सत्ताएं दृष्टिगोचर होती हैं- चेतन एवं अचेतन। इन दोनों के पारस्परिक समन्वय से ही समस्त जागतिक क्रियाकलापों का सञ्चालन होता है। इन द्विविध सत्ताओं में चेतन सत्ता को मुख्य स्वीकार किया जाता है क्योंकि उसकी प्रेरणा एवं नियामकता में ही व्यवहार का सञ्चालन होता है। भारतीय दर्शन में चेतन सत्ता के लिए सामान्यतः 'आत्मा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रत्ययों में आत्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाता है जबकि जैन दर्शन में ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

मुख्य शब्द: जैनदर्शन, न्याय, आत्मा, स्याद्वाद, ज्ञान, चेतना

प्रस्तावना

'दृश् दर्शने' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'दर्शन' शब्द का अर्थ है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, वही दर्शन है। ऐसा अर्थ गृहीत करने पर चूँकि मानव चक्षु इन्द्रिय की सहायता से बाह्य पदार्थों को देखता है, इसलिए केवल चक्षुरिन्द्रिय ही दर्शन कहलाएगी तथा केवल उससे ग्राह्य विषय ही दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में आयेंगे। इसीलिए दार्शनिक सम्प्रत्ययों में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट् प्रत्यय' तथा भाव अर्थ में 'घञ् प्रत्यय' से स्वीकार किया जाता है। 'प्रेक्षण' का अर्थ है- विचार करना, अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दर्शन के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान (चैतन्य) को आत्मा का गुण या धर्म माना जाता है। न्यायमञ्जरीकार का कथन है कि 'स्वरूपतः आत्मा जड या अचेतन है, किन्तु इन्द्रिय एवं विषय का मन के साथ संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य की उद्भूति हो जाती है। यदि आत्मा चैतन्यस्वरूप या ज्ञानस्वरूप होती, तो सभी जीव सर्वज्ञ हो जाते, जो कि सर्वथा असम्भव है। अतः यही मत उपयुक्त है कि यद्यपि ज्ञान आत्मा में समवेत होकर रहता है, तथापि वह उसका सार्वकालिक नहीं, अपितु आगन्तुक धर्म है।¹ सुख-दुःखादि की भाँति आत्मा में रहने वाला ज्ञान गुण भी अनित्य है।² ज्ञान तथा आत्मा में अत्यन्त भेद है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, ज्ञानादि आत्मा के ज्ञापक हैं।³ इन विशेष गुणों के आधार पर गुणी

Corresponding Author:

जया सिंह

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

आत्मा का अनुमान किया जाता है।⁴ ज्ञान आत्मा के आश्रित है, आत्मा ही ज्ञान का अधिकरण है⁵, अतः स्पष्ट है कि आत्मा एवं ज्ञान में सर्वथा भेद है।

जैन दर्शन आत्मा एवं ज्ञान के मध्य अभेद स्वीकार करता है। स्याद्वादमञ्जरी में आचार्य मल्लिषेण ने न्याय-वैशेषिक दर्शन की उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए ज्ञान एवं आत्मा के अभेद को सिद्ध किया है। आचार्य मल्लिषेण के अनुसार ज्ञान एवं आत्मा में सर्वथा भेद मानने पर आत्मा को विषय का ज्ञान नहीं हो पाएगा। जिस प्रकार मैत्र से भिन्न चैत्र के ज्ञान से मैत्र को विषयों का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा को ज्ञेय विषयों का ज्ञान नहीं होगा।⁶ यदि नैयायिक यह कहें कि जिस आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, उसी आत्मा को ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य का कथन है कि ऐसा मानने पर एक ज्ञान से सभी आत्माओं को ज्ञान होने की आपत्ति होगी, क्योंकि समवाय के नित्य तथा व्यापक होने के कारण आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध होने पर ज्ञान भी नित्य तथा व्यापक हो जाएगा। ऐसी स्थिति में एक ज्ञान से ही समस्त आत्माओं को ज्ञान होने लगेगा, जो कि तर्कसंगत नहीं है।⁷

ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध मानने पर जिस प्रकार रूपादि गुण घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा में समवेत होकर रहेगा। किन्तु नैयायिकों के मत में ज्ञान के क्षणिक होने के कारण, रूपादि के नाश से घटादि के नाश की भाँति, क्षणिक ज्ञान के नाश से आत्मा के भी नष्ट हो जाने की आपत्ति उपस्थित हो जाएगी।⁸ ऐसा होने पर आत्मा अनित्य सिद्ध होगा।

आचार्य मल्लिषेण का कथन है कि समवाय से ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह समवाय आत्मा एवं ज्ञान में किस सम्बन्ध से रहता है?

क) यदि नैयायिक यह कहें कि ज्ञान तथा आत्मा में रहने वाला समवाय अन्य समवाय सम्बन्ध से रहता है; तो ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है।⁹

ख) यदि यह कहो कि समवायान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है, समवाय स्वभावतः ही ज्ञान एवं आत्मा में रहता है; तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उसे ज्ञान एवं आत्मा में भी स्वभावतः ही रहना चाहिए, समवाय की आवश्यकता ही नहीं होगी।

नैयायिकों का तर्क है कि जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशन स्वभाव वाला होने से स्वयं को तथा अन्यो को भी प्रकाशित

करता है, उसी प्रकार समवाय का भी यह स्वभाव है। समवाय पहले स्वयं को ज्ञान तथा आत्मा से सम्बद्ध करता है, पुनः ज्ञान और आत्मा को भी आपस में सम्बद्ध करता है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य का कथन है कि ऐसा मानने की अपेक्षा स्वभाव सम्बन्ध मान लेना अधिक तर्कसंगत है। पुनश्च, दीपक का दृष्टान्त भी संगत नहीं है; क्योंकि दीपक द्रव्य है तथा प्रकाश उसका धर्म है। नैयायिकों के मत में धर्म-धर्मी में भेद होता है, अतएव दीपक का प्रकाशरूप होना सम्भव नहीं है।¹⁰ दीपक के प्रकाशरूप न होने पर उसे स्वपर-प्रकाशक भी नहीं कहा जा सकता है। दीपक तथा प्रकाश को नितान्त भिन्न मानकर भी प्रदीप को स्वपर प्रकाश मानने पर घटादि को भी स्वपर प्रकाशक मानने की आपत्ति होगी, क्योंकि दीपक की भाँति घटादि भी प्रकाश से अत्यन्त भिन्न हैं।¹¹

आचार्य मल्लिषेण का अभिमत है कि दीपक के स्वपरप्रकाशन का कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं को प्रकाशित करना तथा अन्यो को प्रकाशित करना ये दोनों एक ही समवाय का स्वभाव होने से भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इन्हें परस्पर भिन्न-भिन्न मानने पर अपर-अपर समवाय की कल्पना करनी पड़ेगी तथा अनवस्था दोष प्रसक्त होगा।¹² अतः जिस प्रकार समवाय का स्वरूप समवायत्व समवाय से भिन्न न होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है, उसी प्रकार स्वयं समवेत होना तथा आत्मा एवं ज्ञान को समवेत करना ये दोनों स्वभाव समवाय से भिन्न नहीं हैं, अतः स्वतन्त्र नहीं हैं।¹³ पुनश्च, जिस प्रकार 'इन समवायियों में समवाय है' यह बुद्धि समवाय तथा समवायान्तर को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है, उसी प्रकार 'इस आत्मा में ज्ञान है' यह ज्ञान भी समवाय को भिन्न पदार्थ स्वीकार किए बिना सम्भव है।¹⁴ अतः समवाय मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों का तर्क है कि आत्मा और ज्ञान में भेद है, क्योंकि आत्मा कर्ता है तथा ज्ञान करण है। जिस प्रकार तक्षा कर्ता है तथा उसके द्वारा निर्मित कुठार करण है; उसी प्रकार आत्मा कर्ता है तथा वह स्वयं से भिन्न ज्ञानरूप करण से विषयों को जानता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य मल्लिषेण कहते हैं कि प्रस्तुत दृष्टान्त में वैषम्य दोष है। तक्षा तथा कुठार के दृष्टान्त में कुठार बाह्य करण है, किन्तु आत्मा के दृष्टान्त में ज्ञान आभ्यन्तर करण है। इसलिए दोनों में साधर्म्य नहीं हो सकता है। अपने मत के समर्थन में आचार्य ने वैयाकरणों का मत भी उद्धृत किया है।¹⁵ अतएव जिस प्रकार कुठार रूप बाह्य करण का धर्म अन्तरंग करण से सम्बद्ध नहीं हो

सकता, क्योंकि ऐसा होने पर देवदत्त दीपक एवं नेत्र से देखता है, यहाँ दीपक की भाँति नेत्र को भी देवदत्त से सर्वथा भिन्न होना चाहिए। किन्तु ऐसा मानने पर लोकव्यवहार बाधित होता है।¹⁶

पुनः, तक्षा और कुठार का दृष्टान्त आत्मा एवं ज्ञान में भेद सिद्ध नहीं करता है, अतएव साध्यविकल है। जिस प्रकार काष्ठ कुठार से बनाया जाता है, उसी प्रकार काष्ठ तक्षा से भी बनाया जाता है। तक्षा के मन में जब कुठार के निर्माण का विचार उत्पन्न होता है तभी काष्ठ रूप कार्य की सिद्धि होती है, अर्थात् मनोगत परिणाम से युक्त तक्षा एवं कुठार दोनों ही काष्ठनिर्माण की क्रिया में संलग्न होते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी 'विवक्षित अर्थ को मैं इस ज्ञान के द्वारा जान लूँगा', इस प्रकार अपने ज्ञान को करण रूप से ग्रहण करने के परिणाम से परिणत हुई आत्मा ज्ञान को करण रूप से ग्रहण कर अर्थ को जानती है। अतएव ज्ञान एवं आत्मा दोनों में ज्ञानलक्षण रूप एक ही कार्य के साधक होने के कारण भेद नहीं रहता है। अतः ज्ञान और आत्मा परस्पर अभिन्न हैं।¹⁷

इस प्रकार ज्ञाता एवं ज्ञान में अभेद की सिद्धि हो जाने पर यह सिद्ध ही है कि ज्ञान भी आत्मा में ही उत्पन्न होता है, विषय में नहीं। यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय अर्थ में होती है तथा आत्मा के विषय के समीप होने से आत्मा को विषय का अनुभव होता है, तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जब ज्ञान रूप कार्य की उत्पत्ति बाह्य ज्ञेय पदार्थ में होती है तो समीपस्थ दूसरे पुरुष को भी ज्ञान का अनुभव होना चाहिए। जिस प्रकार आत्मा भिन्न होते हुए भी सामीप्य के कारण विषय का अनुभव कर सकता है, उसी प्रकार दूसरा व्यक्ति भी भिन्न है तथा समीप में स्थित है, अतः उसे भी ज्ञान का अनुभव होना चाहिए।¹⁸ किन्तु लोकव्यवहार में ऐसा नहीं होता है। अतः ज्ञान एवं आत्मा में अभेद है तथा आत्मा में ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

नैयायिकों की शंका है कि ज्ञान एवं आत्मा में अभेद मान लेने पर कर्ता और करण का सम्बन्ध (कर्तृ-करणभाव) नहीं बन सकेगा। दृष्टान्त के माध्यम से इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य मल्लिषेण का कथन है कि जिस प्रकार सर्प अपने आपको अपने से वेष्टित करता है, यहाँ कर्ता एवं करण दोनों में अभेद है परन्तु यहाँ कर्तृ-करण भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उसी प्रकार आत्मा एवं ज्ञान के अभिन्न होने पर भी उनमें कर्ता एवं करण का भाव नितान्त संगत है।¹⁹ यदि नैयायिक यह कहें कि यह कर्ता और करण भाव

कल्पनामात्र है, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सर्प की वेष्टन अवस्था में प्राक अवस्था से विलक्षण गतिनिरोध लक्षणरूप अर्थक्रिया दृष्टिगत होती है। पुनश्च, अनेक कल्पनाएँ करने पर भी पाषाणस्तम्भ स्वयं को वेष्टित नहीं कर सकता है, अतः यह कर्तृ-करण भाव कल्पित नहीं है। अतएव ज्ञान और आत्मा में अभेद मानने पर भी कर्तृ-करण भाव सिद्ध होता है।²⁰

आचार्य मल्लिषेण का अभिमत है कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता है; यथा वृक्ष का स्वरूप वृक्ष से भिन्न नहीं है। नैयायिक भी आत्मा को चेतन स्वीकार करते हैं, अतः ज्ञान और आत्मा में अभेद सिद्ध होता है।²¹

नैयायिकों का तर्क है कि आत्मा समवाय सम्बन्ध से चेतन है, स्वयं चेतन नहीं है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य मल्लिषेण का कथन है कि यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हमें कभी भी यह प्रतीति नहीं होती कि मैं चेतना के योग से चेतन हूँ, पहले मैं अचेतन था पुनः समवाय सम्बन्ध से चेतन हुआ हूँ। अतः आत्मा को ज्ञानरूप (उपयोगरूप) ही स्वीकार करना चाहिए।²² पुनश्च, हमें सर्वदा आत्मा एवं ज्ञान के एक ही अधिकरण में होने की प्रतीति होती है। 'मैं जानता हूँ' यह प्रतीति ज्ञान एवं आत्मा के समानाधिकरण में ही सम्भव है। इस प्रतीति से भी आत्मा एवं ज्ञान में अभेद सिद्ध होता है। नैयायिकों का आक्षेप है कि जिस प्रकार 'मैं धनवान् हूँ' इस प्रत्यय से ही धन एवं धनवान् में भेद की प्रतीति होती है; उसी प्रकार 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रत्यय से आत्मा और ज्ञान में भेद की सिद्धि होती है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य मल्लिषेण का कथन है कि वैशेषिकों के मत में तो आत्मा घटादि की भाँति जड़ है, अतः वहाँ 'मैं ज्ञानवान् हूँ' यह प्रतीति ज्ञानरूप विशेषण तथा आत्मा रूप विशेष्य के एक साथ ग्रहण होने की अवस्था में ही सम्भव है। विशेषण को ग्रहण किए बिना विशेष्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः जड़ का ज्ञानवान् होना सम्भव नहीं है। जड़ में चेतन की उत्पत्ति असम्भव है, अतः नैयायिकों का आक्षेप अनुचित है।

आचार्य मल्लिषेण नैयायिकों पर प्रत्याक्षेप करते हुए प्रश्न करते हैं कि 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रतीति में ज्ञानवान् की प्रतीति आत्मा में किस प्रकार होती है? आत्मा में यह प्रतीति स्वतः नहीं हो सकती, क्योंकि न्यायदर्शन आत्मा में स्वसंवेदन ज्ञान नहीं मानता है। यदि यह स्वीकार किया जाए कि 'मैं ज्ञानवान् हूँ' यह ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता

है तो उस दूसरे ज्ञान रूप विशेष्य को जानने के लिए अन्य ज्ञानत्व रूप विशेषणों को मानने की आपत्ति होगी, तथा इससे अनवस्था दोष भी उपस्थित होगा। अतएव आत्मा को जड़ स्वीकार करने का सिद्धान्त उचित नहीं है। आत्मा के जड़ न होने पर आत्मा के ज्ञान को उपाधिजन्य मानना भी केवल कथनमात्र है।²³ अतः ज्ञान एवं आत्मा में अभेद मानने का सिद्धान्त ही युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत है।

सन्दर्भ

1. सचेतनश्रिता योगात्तद्योगेन विना जडः। नार्थावभासादन्यद्वि चैतन्यं नाम मन्महे।। न्यायमञ्जरी, भाग 2, पृ. 6
2. 'बुद्धिसुखदुःख-इच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिंगानि' वैशेषिकसूत्र, 3-2-4
3. 'सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्नैश्च गुणैः गुणी अनुमीयते' प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 53
4. 'आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिः।' सप्तपदार्थी, सूत्र 149, पृ. 53
5. 'ज्ञानाधिकरणं आत्मा।' तर्कसंग्रह, पृ. 32
6. 'ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. 56
7. 'समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसंगः।' वही, पृ. 56
8. 'यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः, एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः।' वही, पृ. 56
9. 'अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः। किन्तु स एव समवायः केन तयोः सम्बध्यते? समवायान्तरेण चेद् अनवस्था।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. 56
10. 'यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यं, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता? तदभावे च स्वपरप्रकाशस्वभावता भणितिर्निर्मूलैवा।' वही, पृ. 57

11. 'यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटादीनामपि तदनुषज्यते, भेदाविशेषात्।' वही, पृ. 57
12. 'यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतो स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. 57
13. 'अथाभिन्नौः, ततः समवाय मात्रमेवा न तौ। तदव्यतिरितत्वात् तत्स्वरूपवदिति।' वही, पृ. 57
14. 'यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना, तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते तदा को दोषः।' वही, पृ. 57
15. करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः। यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा।। वही, पृ. 57
16. 'यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्शयते, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति। न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोप्यान्तरे योजयितुं शक्यते, अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रपि दीपादिवत् चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात्। तथा च सति लोकप्रतीतिविरोधः।' वही, पृ. 58
17. एवमात्मापि 'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति। ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवितिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एवं।' वही, पृ. 58
18. 'अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवः, तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि, तथेवदाविशेषात्।' वही, पृ. 59
19. 'अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभावः इति चेत्, ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टीयत्यत्र अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रपि।' वही, पृ. 59
20. 'न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मा वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम्। तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव।' वही, पृ. 59
21. 'चेतनस्य भावश्चैतन्यम्। चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते। तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं, न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम्।' वही, पृ. 59

22. 'अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसम्बन्धात्, न स्वतः, तथा प्रतीतेः इति चेत्। तदयुक्तम्। यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्धयति।' वही, पृ. 59
23. 'न तावत् स्वतः, स्वसंवेदनाभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा, सन्तानान्तरवत्। परश्चेत्, तदपि ज्ञानानन्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः। तदेवं नात्मनो जडस्वरूपता संगच्छते। तदसंघातौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाग्मात्रमा।' वही, पृ. 60-61